शिक्षा : प्रश्नाकुल मस्तिष्क का विकास

साहित्यकार और चिन्तक नंदकिशोर आचार्य से राजाराम भादू की बातचीत

□ : *आचार्य जी, आपसे मुख्यत: शिक्षा के धर्म, संस्कृति और लोकतंत्र से संबंधों पर चर्चा करना चाहते हैं । भारत में विभिन्न धर्मों के लोग रहते हैं, यह एक बहु-धार्मिक समाज है । हमने लोकतांत्रिक शासन पद्धति को चुना है और सांस्कृतिक बहुलवाद को मान्यता दी है । तो प्रारंभिक स्तर पर शिक्षण में हम इस बहुलवाद और बहु-धार्मिकता को किस तरह प्रस्तावित कर सकते हैं ?*

आचार्य : हमें इस बात की तो एक स्पष्टता होनी ही चाहिए कि एक सामान्य पद के रूप में 'शिक्षा' से क्या अभिप्राय है । यद्यपि संविधान ने धार्मिक समुदायों को भी अपने शिक्षा संस्थान चलाने की छूट दी है । लेकिन मेरा मानना है कि शिक्षा में धर्म का स्थान नहीं होना चाहिए । बच्चों के लिए सभी धर्मों के बारे में पढ़ाना बहुलवाद नहीं है । सभी धर्मों की जो साझी संपत्ति है, जो कि वस्तुत: मानवीय मूल्य हैं जिन्हे हम नैतिक शिक्षा से अभिहित करते हैं, उसके लिए जगह हो सकती है । अलग-अलग धर्मों की जानकारी देना भी उचित नहीं है । शिक्षा मूल्यों का ऑरियेन्टेशन है । इन मूल्यों के लिए धर्म की पद्धतियों के बारे में बताना जरूरी नहीं है । धर्मों की मूल्यवत्ता का सार महत्वपूर्ण है जिसे मानव धर्म कह सकते हैं । अलग-अलग धर्मों की पद्धतियों, पूजा-पाठ, अनुष्ठानों के लिए शिक्षा में कोई स्थान नहीं होना चाहिए । यदि आप धर्मों के बारे में बताते हैं तो ये धार्मिक शिक्षा ही है । राज्य की धर्म निरपेक्षता का अर्थ मेरे लिए सर्वधर्म समभाव नहीं है, पंथ-निरपेक्षता भी नहीं है बल्कि एक लौकिक दृष्टिकोण है । राज्य का संबंध लौकिक मामलों से है । अत: राज्य द्वारा समर्थित शिक्षा में धर्म विशेष के लिए स्थान नहीं हो सकता। अगर शिक्षा धर्म से जुड़ती है तो उसका अर्थ बदल जाता है । शिक्षा में मानवीय नैतिक मूल्य हों, जो धर्मों की साझी संपत्ति हैं, जिन्हें किसी एक धर्म से जोड़कर नहीं देखा जा सकता । ऐसे नैतिक मूल्य जिन्हें सभी धर्म स्वीकार करते हैं ।

□ : *यदि हम यह मान्यता लेकर चलें कि प्रारंभिक स्तर पर शिक्षा में धर्म के बारे में बात नहीं की जाये तो मुश्किल यह है कि संस्कृति और इतिहास के बहुत से मसले ऐसे हैं जिन पर धर्म के संदर्भों के बिना बात ही नही की जा सकती। और फिर नयी पीढ़ी के सोच में खुलापन आयेगा कहां से ?*

आचार्य : संस्कृति में धमों की भूमिका क्या रही है, यह सूचनात्मक स्तर पर बताया जा सकता है, मूल्य के स्तर पर नहीं । इतिहास में भी धर्म के संदर्भों को जानकारी के स्तर पर ले सकते हैं ।

एक उदाहरण से शायद बात ज्यादा साफ हो जाये। इतिहास से उदाहरण लेता हूँ क्योंकि मैं इतिहास पढ़ाता रहा हूँ, छोटे बच्चों को तो नहीं पढ़ाया । लेकिन इससे कोई फर्क नहीं पड़ता । कुछ लोगों का कहना है कि मध्यकाल में मंदिर नहीं तोड़े गये । लेकिन सच्चाई यह है कि तोड़े गये थे । यहां के शासकों ने भी तोड़े थे । यह एक संवेदनशील मसला है । यदि इस तथ्य को छुपायें तो गैरजिम्मेदारी है और बच्चों के सामने रखें तो डर है कि इससे उत्तेजना पैदा होगी । तब क्या करें ? मैं जब मध्यकालीन इतिहास में इस पर बात करता हूँ तो यह सब बताने के बाद यह भी बताता हूँ कि धर्म और सम्प्रदाय को राजनीति से जोड़ा जाये तो क्या परिणाम होते हैं । फिर बच्चों से पूछता हूँ कि धर्म को राजनीति से इस तरह जोड़ना सही था या गलत ? सभी बच्चे कहते हैं कि ये गलत था । तो आज अगर ऐसा किया जाये तो क्या यह गलत नहीं है ? और मेरा विश्वास है कि अन्यत्र भी बच्चे इसे गलत ही बतायेंगे। मूल्य दृष्टि के आधार पर तथ्यों का विश्लेषण करेंगे तो उसके नतीजे अलग होंगे ।

आप बच्चों के बीच बात को किस तरह रखते हैं ? आपकी पाठ्यपुस्तक में इन प्रसंगों को कैसे प्रस्तुत किया गया है ? खुद आपका क्या दृष्टिकोण है ? आपकी मूल्य-दृष्टि क्या है ? इस पर भी बहुत कुछ निर्भर करता है । इतिहास अन्तत: मनुष्य को विवेकशील बनाता है । यदि वह ऐसा नहीं कर रहा तो इतिहास का मूल उद्देश्य ही पूरा नहीं हो रहा ।

□ : *अभी तो आरंभिक शिक्षा में सामान्यत: 'सर्व धर्म समभाव' की नीति को अपनाया गया है । इसके पीछे 'एक उदार मस्तिष्क के विकास' का मंतव्य रहा है । लेकिन हम देखते हैं कि यह मंतव्य पूरा नहीं हो पाया ।*

आचार्य : शिक्षक वर्ग स्वयं अभी उन मूल्यों के प्रति ऑरियेन्टेड नहीं है । वह खुद में कुछ पूर्वाग्रह, कुंठा, और उत्तेजना पाले हुए है । बच्चों से किसी बात को छुपाना भी गलत है । सत्य सामने आना चाहिए भले ही वह कितना ही अप्रिय हो । उसकी व्याख्या हम पर निर्भर करती है । अगर शिक्षक की मूल्य-दृष्टि दूषित है तो मंतव्य कितने ही उदात्त हों, वे पूरे नहीं होंगे ।

□ : *खुले मस्तिष्क विकसित करने के लिए क्या यह आवश्यक नहीं है कि संदेहशीलता और प्रश्नाकुलता को बढ़ावा दिया जाये । शिक्षा में प्रारंभिक स्तर से ही धर्म को तार्किक विश्लेषण के दायरे में लाया जाये ।*

आचार्य : सभी धर्म किसी न किसी जिज्ञासा को लेकर चलते हैं । नया धर्म इसलिए शुरू हुआ क्योंकि उसके उत्तर पहले धर्म के उत्तरों से अलग थे । प्रश्नाकुलता तो धर्म से भी जुड़ी है । जो लोग ये मानते हैं कि धर्म एक आस्था है, वे भूल करते हैं । अपने अस्तित्व के बारे में सोचना, सृष्टि के प्रति जिज्ञासा- ये कुछ मूल सवाल हैं, इन्हीं के इर्द-गिर्द सारे धर्म खड़े हुए हैं । धर्म मौलिक शंका को ही प्रस्फुटित करता है । यदि कोई धर्म इस मौलिक जिज्ञासा को ही खत्म कर देता है तो वह धर्म ही नहीं है । कोई धर्मसत्ता ऐसा कर नहीं पायी है, हालांकि वह कोशिश करती है । एक ही धर्म में जो विभिन्न सम्प्रदाय हैं वे भी इसी प्रश्नाकुलता की उपज है । एक ही धर्म को मानने वालों में भविष्य में भी स्थिरता रहेगी इसका कोई वैध आधार नहीं है ।

शिक्षा का मूल उद्देश्य भी एक इंक्वायरिंग माइंड, प्रश्नाकुल मस्तिष्क का विकास करना है। अगर शिक्षा ऐसा नहीं कर पाती है तो वह वास्तविक शिक्षा नहीं है । शिक्षा इन्ड़ोक्ट्रिनेशन (मतारोपण) नहीं है । उसका प्रयोजन शिक्षार्थी को प्रश्न पूछने और अपने उत्तर खुद तलाश करने के योग्य बनाना है ।

संस्कृति जब आप कहते हैं, वह भी इन मौलिक प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने की प्रक्रिया में विकसित हुई है । जिस संस्कृति में जिज्ञासा और प्रश्नाकुलता नष्ट हो जाती है, वह संस्कृति जड़ हो जाती है । स्वतंत्रता के बिना संस्कृति नहीं हो सकती । जो संस्कृति प्रश्न पूछने का अवसर नहीं देती, वह स्वतंत्र कैसे हो सकती है ?

□ : *जब हम सभी धर्मों की स्वतंत्रता की बात करते हैं, सभी धर्मों के प्रति समान आर भाव की बात करते हैं, तो नास्तिकता अथवा अनीश्वरवाद के लिए सामान्यत: वहां कोई जगह नहीं होती । उसके प्रति नकारात्मक भाव ही पाया जाता है । क्या शिक्षाक्रम में नास्तिकता या अनीश्वरवाद के लिए कोई जगह हो सकती है ?*

आचार्य : अनीश्वरवाद, उसकी जगह धर्म में खुद में है । कम से कम ऐसे दो धर्म तो भारत में ही रहे हैं, और प्रभावी रहे हैं । बौद्ध धर्म और जैन धर्म । बौद्ध धर्म ने पूरी दुनिया को प्रभावित किया । लेकिन दुर्भाग्य से हम इन धर्मों के बारे में बच्चों को बताते बताते हैं तो इन तथ्यों पर ध्यान नहीं देते । हमारे अपने मन में एक तरह से धर्म और ईश्वर इतने मिले-जुले रहे हैं कि हमारी समझ में कोई धर्म अनीश्वरवादी हो ही नहीं सकता । आधुनिक काल में जिस धर्म निरपेक्ष आध्यात्मिकता की बात की जाती रही है या जिसे अज्ञेय ने 'मानव केन्द्रित आध्यात्मिकता' कहा, इसे आप चाहें तो 'नास्तिक आध्यात्मिकता' कह सकते हैं, उसमें ऐसा विमर्श है । ऐसा मानने वाले तो हमेशा रहे कि वेद ईश्वर कृत नहीं हैं । इसलिए जब धर्म पर चर्चा हो तो ऐसे प्रसंग भी उसमें आने चाहियें ।

□ : *आचार्य जी, आदिवासी समुदायों का धर्म-विधान तो काफी भिन्न था ।*

आचार्य : आदिवासी समुदाय भी अपने सवालों का अपनी तरह उत्तर प्राप्त करने का प्रयास करते रहे हैं । एम. एन. राय ने विज्ञान और दर्शन पर विचार करते हुए लिखा है कि आदिवासी समुदाय में ये जो टोटम, जादू वगैरह चीजें मिलती हैं, ये भी एक तरह से उनके वैज्ञानिक प्रयास थे । उनके मूल में भी अपने रहस्यों को खोलने की वही मौलिक जिज्ञासा थी। आखिर वे करते क्या हैं, कि कोई चीज कैसे काम करती है, ये जानने के लिए उन्होंने जितना कर सकते थे, किया। समकालीन नृतत्वशास्त्रियों की आदिवासी संस्कृति को लेकर की गयी व्याख्याएं भी यही साबित करती हैं। ये उनके प्रारंभिक प्रयास थे, तभी तो आप उन्हें आदिवासी कहते हैं ।

□ : *शिक्षा और संस्कृति का आप क्या रिश्ता मानते हैं ? क्या शिक्षा सिर्फ संस्कृति का पीढ़ीगत हस्तान्तरण करती है, सांस्कृतिक मूल्यों से निर्देशित होती है या संस्कृति का परिष्कार भी करती है ?*

आचार्य : शिक्षा के माध्यम से हम बच्चे को समूचे मानव - विकास की प्रक्रिया से गुजारना चाहते हैं । जब तक हम बालक में यह भाव पैदा नहीं कर देंगे कि वह इस सृष्टि का अंग है और उसमें यह सारी सृष्टि विकसित हुई है, तब तक उसमें हम मूल्य-दृष्टि का विकास नहीं कर पायेंगे । हम जिसे मूल्य कहते हैं वह अपने से इतर से एकत्व के भाव से पैदा होता है । जीवन मात्र के प्रति इस एकत्व का बोध जब तक हमारी प्रारंभिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में समाहित नहीं होगा, हम बच्चे की संवेदनशीलता विकसित नहीं कर सकते हैं । निश्चय ही यह बोध स्कूल की शैक्षणिक प्रक्रियाओं में और सामाजिक वातावरण में भी व्याप्त होना चाहिए । जब तक ऐसा नहीं होगा, हम शब्दों के माध्यम से एक पाठ की तरह बच्चे को यह सब बताकर उसमें मूल्य-बोध विकसित नहीं कर सकते ।

हम जब शिक्षा की बात करते हैं तो अपने को हम शाला तक और कभी-कभी परिवार तक सीमित कर लेते हैं । लेकिन पूरे सामाजिक वातावरण और विशेषकर दृश्य संचार माध्यमों के मनोवैज्ञानिक प्रभावों की अनदेखी कर देते हैं । यह देखना होगा कि ये सारी प्रक्रियाएं बच्चे में जीवन के साथ एकत्व का बोध पैदा करती हैं या उसे यह समझाती हैं कि सारी सृष्टि उसके इस्तेमाल के लिए है । आप चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि बहुराष्ट्रीय पूंजीवाद आज शिक्षा से जो कुछ चाहता है उसे वह शालाओं के बजाय दृश्य संचार माध्यमों से पूरा करने की कोशिश कर रहा है । शाला की अपनी प्रक्रियाओं में भी जब हम सहयोग की बजाय येन-केन-प्रकारेण प्रतिस्पर्धा में सफल होने को महत्व देने लगें तो स्पष्ट है कि हम बच्चे को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में बनाना चाहते हैं जिसे दूसरों को पछाड़ने में सार्थकता महसूस होगी । अवसरों की अपर्याप्तता हमारी व्यवस्था की कमजोरी है जिसके कारण हम प्रतिस्पर्धा को या प्रतिद्वन्द्विता को एक मूल्य की तरह समाज में स्थापित कर रहे हैं ।

ऐसी शिक्षा-प्रणाली में और ऐसे सामाजिक वातावरण में जिस मूल्य-बोध की बात हम कर रहे हैं वह विकसित होना असंभव है । यहां मैं इस विडम्बना की ओर ध्यान दिलाना चाहूंगा कि इस प्रक्रिया में शिक्षा अपने मूल मंतव्य से ही विचलित हो गयी लगती है । शिक्षा की पहली जिम्मेदारी शिक्षार्थी के प्रति है कि कैसे उसे एक अच्छे, सदगुण संपन्न, रचनात्मक व्यक्तित्व के रूप में विकसित किया जाये जिससे कि वह अपनी अन्तर्निहित संभावनाओं को मूर्त कर सके । लेकिन इसके बजाय आज शिक्षा की केन्द्रीय धारणा उसे बाजार के लिए उपभोक्ता और पूंजीवादी व्यवस्था के लिए एक कुशल यंत्र के रूप में ढ़ालने पर जोर दे रही है जिसका तात्पर्य यह है कि अब शिक्षा बच्चे के लिए नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय पूंजीवाद के लिए एजेंट के रूप में काम कर रही है । मैं नहीं जानता कि हमारे कितने शिक्षाशास्त्री और शिक्षक इस विड़म्बना को पहचान पा रहे हैं ।

□ : *आचार्य जी आपने कहा, 'जब तक हम बालक में यह भाव पैदा नहीं कर देंगे कि वह इस सृष्टि का अंग है और उसमें यह सारी सृष्टि विकसित हुई है,' यह जो दूसरी बात है जरा इसे स्पष्ट करेंगे ।*

आचार्य : बच्चा सृष्टि का सबसे ताजा रूप है, उसके रूप में सृष्टि ने अपने को ही विकसित किया है, आगे बढ़ाया है । अन्ततः बच्चा सृष्टि का ही नया सृजन है ।

□ : *मौजूदा समय में एक ओर भूमंडलीय या कहें पाश्चात्य संस्कृति के वर्चस्व का दबाब है, दूसरी ओर पुनरुत्थानवादी सांस्कृतिक रुझान हैं, ऐसे में किन सांस्कृतिक घटकों को आधारभूत माना जाये ?*

आचार्य : भूमंड़लीकरण के प्रभाव पर तो मैं ने अभी कहा है । दूसरे प्रकार के रुझान पर यही कहूंगा कि जहां भी स्वतंत्रता का हनन है वहां शिक्षा नहीं है । जहां भी सृजनात्मकता का हनन है, दमन है, वहां शिक्षा नहीं हो सकती । जो शिक्षा अपनी प्रक्रिया में दण्ड को, आदेश को और जिज्ञासा को नष्ट करने को महत्व दे रही हो, वह शिक्षा है ही नहीं । उन संस्थाओं को शिक्षा संस्थान कहना ही नहीं चाहिए । यदि धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर मूलभूत स्वतंत्रता का ही दमन किया जाता है तो उस प्रक्रिया में धार्मिकता भी कैसे स्वतंत्र रह सकती है । इस संदर्भ में इवान इलिच याद आते हैं । उन्होंने कहा था कि शिक्षा का एक घोषित पाठ्यक्रम होता है और एक प्रच्छन्न। बल्कि प्रच्छन्न पाठ्यक्रम अधिक महत्वपूर्ण और प्रभावी होता है । इसलिए यदि ऐसी शिक्षा संस्थाएं अपनी प्रक्रिया में दमनकारी हैं तो उनका घोषित पाठ्यक्रम कुछ भी हो, वे समाज में दमन ही पैदा करेंगी । शिक्षा की सार्थकता ऐसे दमन से मुक्ति के लिए समर्थ बनाना है । यहां मैं केवल धार्मिक संदर्भ में ही यह बात नहीं कह रहा हूं बल्कि ये बात आर्थिक व राजनैतिक संदर्भ में भी लागू होती है ।

□ : *धर्म और संस्कृति में भेद करने वाले ऐसे कौन से अवधारणात्मक तत्व हो सकते हैं जिन्हें सांप्रदायितकता से बचाने का आधार बना सकें ?*

आचार्य : एक तो स्वतंत्रता और सृजनात्मकता ऐसी अवधारणाएं हैं । वैसे जहां स्वतंत्रता है वहां सृजनात्मकता होगी और जहां सृजनात्मकता है वहां स्वतंत्रता होगी । इन्हें आरंभिक आधार मानकर चला जाये तो रास्ता निकल सकता है। आखिर नैतिक क्या है ? जो चीज सृजनात्मकता में मदद करती है वह नैतिक है, जो बाधक है वह अनैतिक ।

□ : *सृजनात्मकता का आपके लिए व्यापक अर्थ है । कृपया यहां इसे दोहरायेंगे ।*

आचार्य : सृजनात्मकता से मेरा आशय है अपने परिवेश के साथ आनंद का रिश्ता, अपने परिवेश के साथ एक रागात्मक संबंध और उस परिवेश के माध्यम से अपने व्यक्तित्व को और समृद्ध करना तथा अपने माध्यम से परिवेश को और सम्पन्न करना । यह पारस्परिक सम्पन्नता, यही सृजनात्मकता है ।

□ : *जैसा कि आपने अभी उल्लेख किया, इधर शिक्षा पर बाजार के अनुसार संचालित होने के लिए दबाव है, ऐसे में लोकतंत्र के लिए शिक्षा पर कैसे दृढ़ रहा जाये ?*

आचार्य : लोकतंत्र की अवधारणा को हमें ठीक से समझने की जरूरत है । हम सामान्यत: इसे बहुमत का शासन मान लेते हैं जिसका व्यवहारिक अर्थ बहुमत का शासन हो जाता है । लेकिन लोकतंत्र का अर्थ है मनुष्य की गरिमा स्थापित करने वाली व्यवस्था । इसके लिए जरूरी है कि शिक्षा में मनुष्य मात्र की गरिमा को तो महत्व दिया ही जाये लेकिन वह महत्व केवल अमूर्त न हो बल्कि वह अपने से इतर के साथ अहिंसा और उसके प्रति जिम्मेदारी के बोध का विकास करे । यही लोकतंत्र में शिक्षा की भूमिका है । यदि हम बच्चे में शिक्षा के माध्यम से जीवन मात्र के प्रति एकत्व का बोध उत्पन्न कर पायें तो लोकतंत्र स्वमेव पुष्ट होगा । बच्चे में अन्य की स्वतंत्रता, सृजनात्मकता और गरिमा के प्रति लगाव और समानता का भाव पैदा होगा । यदि ऐसा हो सके तो किसी तरह के फन्टामेन्टलिज्म (कट्टरतावाद) के लिए वहां स्पेस (स्थान) ही नहीं मिल सकता। अतएव मूल बात अपने परिवेश के साथ रागात्मक रिश्ता कायम करने की है । और परिवेश का अर्थ केवल प्राकृतिक परिवेश नहीं, मानवीय परिवेश भी है ।

□ : *राज्य सत्ता या बाजार के हितों के लिए संचालित शिक्षा विद्यालयों और धार्मिक शिक्षा संस्थाओं को छोड़ दें और उन पर हम चर्चा कर भी चुके हैं, शिक्षा-दर्शन की विभिन्न धाराओं से प्रेरित जो शैक्षिक प्रयोग और नवाचार चल रहे हैं, हालांकि इनकी तादाद बहुत ज्यादा नहीं है, इनके बहुलवाद को आप कैसे देखते हैं ?*

आचार्य : हम ऐसी संस्थाओं को विकसित करने की दिशा में सचेष्ट हों जो किसी तरह के केन्द्रीकरण पर आधारित न हो, क्यों कि केन्द्रीकरण अनिवार्यत: बहुलता का निषेध करता है । ऐसा हो सकता है कि किसी संस्था द्वारा सैद्धांतिक स्तर पर बहुलता का स्वीकार करने के बावजूद भी वहां केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति हो । केन्द्रीकरण की प्रक्रिया उन संस्थाओं के अपने विशिष्ट स्वरूप को नष्ट कर देती है । बहुलता को स्वीकार करने का तात्पर्य है, प्रत्येक शिक्षा संस्था के लिए अपने विशिष्ट स्वरूप को विकसित करने की स्वतंत्रता । उसे अपनी रीति-नीति और परिवेश की समझ एवं उसके साथ अपने रिश्ते विकसित करने की प्रक्रियाओं की स्वतंत्रता। इस स्वतंत्रता के चलते ही भिन्न शैक्षिक-चिन्तन से अनुप्राणित संस्थाओं के प्रति पारस्परिक अन्तर्क्रिया और संवाद संभव है । तभी ये एक दूसरे को उत्प्रेरित और समृद्ध कर सकती हैं ।

कहने के लिए हमारे सभी विश्वविद्यालय और छोटे स्तर की शिक्षा संस्थाएं भी स्वतंत्र या स्वायत्त कही जाती हैं । लेकिन जब वे किसी एक केन्द्रीकृत व्यवस्था से नियंत्रित या परिचालित होती हैं तो उनका बहुलतावाद औपचारिक बनकर रह जाता है । और ये उस केन्द्र की नियंत्रक शक्तियों की एजेन्ट बनती चली जाती हैं । यह नियंता चाहे एक व्यक्ति हो, और कितनी ही सैद्धांतिक निष्ठा रखता हो । केन्द्रिकृत होने पर उसमें भी एक ऑटोक्रेसी (एकाधिपत्य) विकसित होगी । वह अपनी इच्छाओं के अनुसार चीजें करना चाहेगा । जबकि बहुलवाद के लिए संस्था में आंतरिक लोकतंत्र जरूरी है । वहां व्यक्ति अपने साथियों विचारों को भी तवज्जो दे । उसमें ये भाव हो कि मेरे साथियों को भी उतनी ही स्वतंत्रता है । ऐसा नहीं होता है तो ये स्वतंत्रता का निषेध है ।◆